१६

भ्रमोच्छेदन

ग्रन्थ परिचय

'भ्रमोच्छेदन' नामक ग्रन्थ महर्षि दयानन्द द्वारा लिखा गया है। महर्षि ने यह ग्रन्थ **संवत् १९३७, ज्येष्ठ मास के कृष्ण पक्ष की द्वितीया तिथि गुरुवार** को पूर्ण किया। यह ग्रन्थ **हिन्दी भाषा** में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में महर्षि दयानन्द जी के अपने शब्दों में ही, **''अब जो राजा शिवप्रसाद जी ने स्वामी विशुद्धानन्द जी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में, निवेदन पत्र छपवा के प्रसिद्ध किया है, उसी के उत्तर में यह पुस्तक है।''**

राजा शिवप्रसाद एक विद्वान् भी हैं महर्षि दयानन्द जी की पहले यही धारणा थी और वे उनसे मिलना भी चाहते थे, परन्तु एक बार संवत् १९२६ कार्तिक सुदी १४, गुरुवार के दिन अचानक कुछ समय के लिए स्वामी जी की उनसे बात हुई तो उनकी धारणा बदली। उनके शब्दों में, **''परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजा जी पर था वैसा उनको न पाया। राजा जी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी है।''** वस्तुतः स्वामी जी इसके माध्यम से **स्वामी विशुद्धानन्द जी को चेताना चाहते थे।** उनके अनुसार, राजा जी तो संस्कृत विद्या पढ़े ही नहीं तो उनके सामने यह लेख तो ऐसा ही है जैसे बहरे के सामने अत्यन्त निपुण गाने वाले का वीणा आदि बजाना। (सम्पादक)

॥ ओ३म्॥

भ्रमोच्छेदन[१]

(अविद्वानों का)[२]

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन कर चित्त में चाहा कि कभी उन से समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं?

देखना चाहिये कि जैसा उन को मैं सुनता हूं, वैसा ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पांच वार काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उन से ऐसा समागम न हुआ[३] कि कुछ वार्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९२६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग़ में निवास किया। इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसादजी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल ऑलकाट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेष्टकी को मिलने के लिये आनन्दबाग़ में आये, उन्होंने मुझ से मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिलना चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजासाहब की सूचना कराई और जब-तक उक्त साहब के साथ

---

१ इस पुस्तक में जहां जहां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठों के प्रमाण दिये हैं, वे ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम संस्करण सन् १८७६ के अनुसार हैं।

२ जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता, क्योंकि उनको तो संस्कृत विद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूँ सो सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे।

३ एक बार सय्यद अहमदखां सदरसदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था, पर वार्तालाप नहीं हुआ था।

राजाजी न उठ गये तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं उनसे बातें हुईं, परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था वैसा उनको न पाया।[४] मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि—'स्वामीजी की बात सुन मैं भ्रम में पड़ गया'।

यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है, और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं?[५] जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं,[६] किन्तु इस में प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है।

देखो, मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये? जब मेरी यात्रा सुनी, तभी पत्र भेजके प्रत्युत्तर क्यों चाहे? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवा चार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां तहां भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित करना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है।[७] भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे?

---

४. राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।

५. कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो, परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें विना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता, 'न वह विना पढ़े' समझ सकता है।

६. हाथी के खाने के दांत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं।

७. जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी, तभी उनसे पत्र व्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा।

ऐसे कपट छल से व्यवहार न करने में मनुजी की साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥ १॥

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण, सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो, उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे, और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे, और कोई प्रतिवादी सत्य कहे उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से[८] (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधिगच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं॥ १॥

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये[९] तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूँ? हाँ, मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म, उन सबों के समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं जब तक वह अपनी अयोग्यता को छोड़ कर नहीं पूछता और न कहता है तब तक उससे सत्याऽसत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां, जो सब विद्वानों को योग्य है वह काम तो करता ही हूं अर्थात् जब जब अयोग्य पुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूं, तब तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं। वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित हो जाता है[१०]॥

---

८. जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे वह 'छली' कहाता है।

९. जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता, वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता।

१०. कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता, तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये हैं, उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है।

अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में 'निवेदनपत्र' छपवाके प्रसिद्ध किया है, उसी के उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहां जहां (रा०) चिह्न आवे, वहाँ वहां राजा शिवप्रसादजी का और जहां जहां (स्वा०) आवें वहां वहां मेरा लेख जानना चाहिए॥

रा०—जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा। महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगाके पृष्ठ १ से ८८ तक देखा, विचित्र लीला दिखाई दी। आधे आधे वचन जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध को जो प्रतिकूल पाये परित्याग[११]। उन आधे अनुकूल में जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे,उनके अर्थ पलट दिये, मनमाने लगा लिये[१२] परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा? क्या इसलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है?

स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है, उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है? और यह भी सच है कि जब जब अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रन्थ को देखने लगता है, तब तब काच के मन्दिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस-भूंस सुख के बदले दुःख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता

११. देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ अनुकूल लिखा है उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है।

१२. जैसी राजाजी की समझ है, वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती क्योंकि जो व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है उस उस को वे उलटा समझते हैं और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते हैं, यह उन की समझ का दोष है।

हो, उतना ही लिखना उचित होता है, न अधिक न न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है, इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था, उतना ही लिखा है। जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती, तो वहां उस उस भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरण विरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं[१३]।

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रन्थों का ग्रन्थों ही के साथ सम्बन्ध होता है। जब ऐसा है, तब राजाजी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रन्थों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है[१४] कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी सम्पूर्ण का लिखना उचित समझते हैं, सो यह बात अत्यन्त तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़ कर गिराती रहती है, अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं, उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहां जो को मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी दयानन्दसरस्वतीजी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं, वही आप के "**अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः**" इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली[१५] तो ऐसी है—

"अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥"

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़, चौथे भाग को क्यों लिखा? तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायँगे, क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो, किन्तु वाक्यावली लिखना योग्य

१३. चेत करना चाहिये यह उल्टी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना।

१४. ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता है, और न हाथ से लिखा जा सकता है।

१५. जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग और जूते शिर पर धरता है, वैसे काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता।

समझते हैं।[१६]

जो ऐसा न समझे तो—''**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टगं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥**'' इस वाक्य समुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा, यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें, उन्होंने न कभी किसी से वाक्य का लक्षण सुना और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो '**एवं वा०**' इससे ले के '**निःश्वसितानि**' इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते[१७]।

देखिये! यह **महाभाष्य** में वाक्य का लक्षण लिखा है—'**एकतिङ् वाक्यम्।**' जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो, वह 'वाक्य' कहाता है। जैसे—'**एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति**' एक और '**पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति**' दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कण्डिका में २० वाक्य तो पठित हैं और आकांक्षित वाक्य '**त्वं विद्धि**' इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो, उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो, उनको प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है[१८]? इसीलिये जो राजाजी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है, सो बहुत ठीक है

१६. मेरी प्रतिज्ञा तो यह कि है जहां जितना लिखना योग्य हो, वहां उतना ही लिखना॥

१७. जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते, तो उनके मुख से ऐसी असम्भव बात कभी न निकलती।

१८. राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूं। हां '**अन्धानां मध्ये काणो राजा**' यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे।

१९. ईश्वरोक्त चार वेद स्वतः प्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना से कोई भी

कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्या-पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है[१९]। इसलिये उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ।

क्या अब जिस को थोड़ीसी बुद्धि होगी, वह राजासाहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थ ज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है? यहां '**चोर कोटवाल को दण्डे**' यह कहानी चरितार्थ होती है कि जो ''**अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः**'' के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और उपदेश को माननेहारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट पलट नहीं है?

इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित करता हूं कि जो अपना कल्याण चाहें, वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्य जन्म के धर्मार्थ काम मोक्ष फलों से रहित होकर दुःखदुर्गन्धसागर रूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है, सो करनी चाहिये—

रा०—श्रीमत्पण्डितवर[२०] बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं, परमपूजनीय जगद्गुरु[२१] श्री स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच, जो पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे[२२] और पिछले उत्तर पर जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम है कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धानन्दजी का

आर्ष पुस्तक पढ़ना बाक़ी नहीं रहता कि जिसका परतःप्रमाण ग्रहण न हो सके क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुए हैं और पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया है इसलिये जो राजाजी ने नोट में ''स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा'' लिखा है, सो भ्रम से ही है।

२०. काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं, भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं।

२१. जगत् में जो जो उनके शिष्यवर्ग में हैं, उन उनके परमपूजनीय और गुरु होंगे, सब के क्यों कर हो सकते हैं?

२२. जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते, तो हास करके अयोग्य पत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते?

लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो, उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों? क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित् अव्युत्पन्न व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर विना सोचे समझे सम्मति लिख देवें, और इससे 'सजातीय प्रवाहपतन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यत्व की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूं कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें।[२३] भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आपने जिसलिये वेदादिविद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है, जो आप को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो तो मेरे पास आके सुन समझ कर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि-विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसीलिये उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूंगा।

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते, तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते[२४]। न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूं कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीन टीकानुसार दश उपनिषद्, शारीरक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है। परन्तु वे भी नशा से[२५] विस्मृत हो गये होंगे, तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिये वे संस्कृत पदवाक्य प्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं। परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी।

२३. जो कोई विना बिचारे कर बैठता है, उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते।

२४. यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है वह समझ भी सकता है।

२५. सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं, वे सब बुद्धिनाशक होते हैं। इससे सब को योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें।

अस्तु, जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर का प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे, वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे, जैसा कि यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये ये तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों का विचार शुद्ध लिखकर मुन्शी बख्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मुन्शीजी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं, इस निश्चय के लिये पत्र द्वारा आप से सम्मतिपत्र मंगवाके मेरे पास भेज दिया करेंगे और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्र सहित उनके पास भेज दिया करेंगे।

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे, तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे? क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें, वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूं कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों, तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना क्यों नहीं छोड़ते?

और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते[२६]? जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आने पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उन्होंने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई, वैसे जो वे मुझसे शास्त्रार्थ करेंगे तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये विना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे?

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इस पर अपनी सम्मति लिखते तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी

२६. उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढ़ोत्साहयुक्त होके निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें।

के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजाजी! आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंच कर पत्र दिखा सम्मति लिखा पुस्तक छपाकर इधर उधर भेजने से भी न बच सके, आपके जाट, खाट और कोल्हू लौट कर आप ही के शिर पर चढ़े वा नहीं? अब इस बोझ के उतारने के लिये आपको योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिये और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक् अर्थात् वारिस्टर करना भी मत छोड़िये।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें, किन्तु सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो, जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़, सत्यमत ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना बालकों का खेल नहीं है? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे, वह संशय में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे?

अब मैं सूचना करता हूँ कि बुद्धिमान् आर्य लोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यपद लेख को देख उस पर विश्वास कर इस **'क्वास्ताः क्व निपतिताः'** महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश होकर धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते, सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है, वैसे मैंने नहीं कहा था किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

रा०—आपका मत क्या है?

स्वा०—वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं?

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते?

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते?

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है, जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०—वादी कहता है[२७] जो संहिता ईश्वर प्रणीत है तो ब्राह्मण भी ईश्वर प्रणीत हैं।

स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को, जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मणग्रन्थ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं, तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है, तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये[२८]।

२७. क्या विद्या और सुशिक्षा रहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है? जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं, तो वादी क्योंकर बन सकते हैं?

२८. जो मैं राजाजी के सदृश होता तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता।

स्वा०—देखिये, राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं, वैसी ही प्रतिध्वनि सुनने में आती है, विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले, विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्ध पक्ष प्रतिपादन नहीं करता, तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआ में से प्रतिध्वनि सुनी जाती है, क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होती है?

रा०—आपने लिखा वेदसंहिता स्वत:प्रमाण और ब्राह्मण परत:प्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है तो ब्राह्मण ही स्वत:प्रमाण हैं, आपका संहिता परत:प्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है? जैसे कोई कहे कि सूर्य्य और दीप स्वत:प्रकाशमान हैं तो घटपटादि भी स्वत:प्रकाशमान हैं।

रा०—आप ने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव ९ पृष्ठ से लेके ८८ अट्ठासी के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेदसंज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये, निश्चय होगा। सो महाराज! निश्चय के पलटे में तो और भी भ्रांति में पड़ गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा, उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभिमान करे, वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़ कर दु:ख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वत:प्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परत:प्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के इसी पृष्ठ में आगे लिखे हैं। क्या बांचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंख अन्धकारावृत्त हो गये थे?

परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं। वेद स्वत:प्रमाण और ब्राह्मण परत:प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।

रा०—'**तस्माद्यज्ञात्---अजायत**' अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए। पृष्ठ ९ पङ्क्ति १ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ और विष्णु परमेश्वर है।

स्वा०—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते, तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि 'तच्छब्द' सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने '**सहस्त्रशीर्षा पुरुष:**' यहां से लेके '**ग्राम्याश्च ये**' यहां तक जो छ: मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्त कारण परमात्मा पूर्वोक्त है, उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ९ पंक्ति ९—''**(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमत: परब्रह्मण: (ऋच:) ऋग्वेद: (यजु:) यजुर्वेद: (सामानि) सामवेद: (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।**''

यहां 'सर्वहुत' और 'यज्ञ' विशेषण पूर्णपुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है, उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं। इत्यादि से यहां वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वत:प्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्मा का विशेषण है, तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है, वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये '**यज्ञो वै विष्णु:**' यह वचन लिखा है और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता तो मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता।

जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थ सम्बन्धों के जानने में तन मन धन लगा के अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते तो यथावत् क्यों न जान लेते[२९]।

[रा०—पृष्ठों को कुछ उलट पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है। आप पृष्ठ ८१ पंक्ति २ में लिखते हैं—कात्यायन ऋषि ने कहा

२९. प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते।

है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ में लिखते हैं प्रमाण ८ हैं और फिर ५३ में लिखते हैं चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आपके निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे?][३०]॥

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ से लेके पृष्ठ ८८ अट्ठासी तक में लिख रखा है, जो चाहे सो देख लेवे। और जो वहां '**एवं तेनानुक्तत्वात्**' इस वचन का यही अभिप्राय है कि '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता[३१]? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते? जो कभी आप्त मानते हो तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते?

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे, तो ऐसा नहीं हो सकता। क्यों आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो? और जो उन को भी आप्त मानते हो, तो मन्त्रसंहिता ही वेद हैं उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद-संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते और जो सैंकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

रा०—आप लिखते हैं कि—ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं, सो देहधारी हैं, अतएव वह वेद नहीं और संहिता में शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और काश्यप का अर्थ प्राण है, अतएव वह वेद है।

---

३०. वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया, वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था।

३१. हज़ारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है, मूर्ख दो का भी एकमत होना कठिन है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है कि जहां जहां ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहां वहां जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती, वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते तो वेद आदि और सब से प्राचीन नहीं हो सकते? क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जब कि वेदों में '**त्र्यायुषं जमदग्नेः०**' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थ विद्यायुक्त होनी ही उचित है, इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है, वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते, तो भ्रमजाल में फँसकर दु:खित न होते।

रा०—उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है? अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उसका संज्ञी वा संज्ञा है?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि एक '**ईशावास्य**' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है, और 'केन' से लेके 'बृहदारण्यक' पर्यन्त ९ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहासादि संज्ञा '**ब्राह्मणानीतिहासान्०**' इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे '**एवं वा अरे०**' इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञी-सम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो '**मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी**' ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते[३२]।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने के प्रमाण के योग्य तो हैं। यदि आप इतना और मानलें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है।

---

३२. विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती। क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने के प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे।

इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रन्थों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतः प्रमाण, और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हो तो अप्रमाण और अनुकूल हो तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतःप्रमाण हैं क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर धरके पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है। इसलिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है।

रा०—आप लिखते हैं—'**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**' इसका अर्थ सीधा सीधा यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उनके छओं अङ्ग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है। अपना फिरावट का वा अर्थाभास छोड़ दें। किमधिकमित्यलम्।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटाङ्गलेख है, उस को कौन शुद्ध कर सकता है क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पंक्ति ३ में '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' इस उपनिषद् के वचन ने आप के सीधे सीधे अर्थ को टेढ़ा टेढ़ा कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ से करता हूँ, तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में परा विद्या क्यों नहीं?

देखो—**तमीशानं,** इत्यादि मन्त्र, **ऋग्वेद। परीत्य भूतानि**' इत्यादि और '**ईशावास्य**' इत्यारभ्य, '**ओं खं ब्रह्म**' पर्यन्त मन्त्र युक्त ४० चालीसवां अध्यायस्थ मन्त्र, यजुर्वेद। '**दधन्वे वा यदीमनुवोचद् ब्रह्मेति वेरुत्तत्।**' इत्यादि मन्त्र सामवेद। '**महद्यक्षं** इत्यादि मन्त्र **अथर्ववेद**' में हैं। जब वेदों में हज़ारों मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, जिनमें से थोड़े से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका पृष्ठ ४३ पंक्ति २२ से लेके २६ पंक्ति की समाप्ति तक

लिख रक्खा है। जिसको देखना हो देख लेवे।

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में परा विद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहां से आती? '**मूलं नास्ति कुतः शाखाः?**' क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था? क्योंकि कारण के विना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे, तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है, तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने '**यया तदक्षरमधिगम्यते सा पराविद्यास्ति**' इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है? और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है, उसको कोई विपरीत भी कर सकता है? कभी नहीं।

इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हीं में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे समझे सम्मति करदी है, वैसे साहस न करना चाहिये। किन्तु उस विद्या में योग्य होके किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये।

प्रश्न—आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित जानता हूँ।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को क्योंकि राजाजी तो विचारे

संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं। उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है।

प्रश्न—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे करते हो, सो यह न्याय की बात नहीं है?

उत्तर—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़ कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे। न राजाजी के योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़े और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें[३३]।

प्रश्न—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा?

उत्तर—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूँ कि जो ऐसा वे करें तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूँ कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे। जो ऐसी इच्छा मेरी न होती तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता?

प्रश्न—वे हैं बहुत और आप अकेले हो, कैसे संवाद कर सकोगे?

उत्तर—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायेंगे और वे उन लेख वा वचनों को देख सुन उनमें से इष्ट को ले मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा इन दो बातों में से जिस में उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूँ। परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूँ, वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्रश्न—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्र द्वारा?

३३. यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें, उसे छोड़ कर विश्वासघात कर बैठें।

उत्तर—सर्वोत्तम तो यह है जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है अर्थात् एक महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है और दूर दूर रह कर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों, उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ।

प्रश्न—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा?

उत्तर—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से सब को परमानन्द होना और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या मत में वर्त्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दु:खों का न छूटना फल है।

प्रश्न—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें तो छुड़ाने का क्या उपाय है?

उत्तर—शास्त्रार्थ से पूर्व मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो उस के छोड़ने और जिसका सत्य हो उसके स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के काग़ज़ पर लेख होकर रजिस्टरी कराकर एक दूसरे को अपने अपने पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना अपना हठ छोड़ देवें क्योंकि जो न छोड़ेगा तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्रश्न—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है?

उत्तर—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और इसको सत्य समझ लूंगा, तब जहां हूंगा वहां से चल के काशी में उचित समय पर पहुँचूंगा कि जिससे उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा, क्या यह छोटा लाभ है?

प्रश्न—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे वा सं० १९२६ के शास्त्रार्थ

को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उनको यह निश्चय होता कि हमारा वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है तो शास्त्रार्थ किये विना कभी नहीं रहते अथवा जो और कुछ कारण हो तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं?

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा। हां सन्मुख आ के तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हां ऐसा निश्चय करना ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता संन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष परिहारार्थ इन दोनों को सम्मुख आर्यावर्त्तीय पण्डितों में माने हैं। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशात्रीजी को निर्भय निःशङ्क करे कि जिससे वे मुझ से सम्मुख वा पत्र द्वारा पाषाणादि मूत्तिपूजादिमण्डन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढ़ोत्साहित हों जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढ़ोत्साहित हूँ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले।
द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितो आर्यभाषाविभूषितो भ्रमोच्छेदनोऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिमगमत्॥